राधाकृष्ण के अनन्य भक्त नागरीदास

गोपीनाथ पारीक गोपेश
अध्यक्ष
राजस्थान आयुर्वेद विज्ञान परिषद्

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम प्रेम के रूप में स्वीकार किया है- सात्वस्मिन् परमप्रेम- रूपा "भगवत्परायण जीवन के लिये शुद्ध प्रेमावस्था की प्राप्ति आवश्यक है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये भक्ति के पाँच मुख्य भाव कहे गये हैं। इन भावों का विकास ही प्रेम है। श्री रूप गोस्वामी प्रेम के प्रादुर्भाव का क्रम व्यक्त करते हैं - पहले ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है फिर सत्संग में रुचि होती है फिर रस एवं भाव जागृत होते हैं, इसके बाद प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। अभिलाषाओं से मुक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक भक्ति करना ही उत्तम या शुद्ध भक्ति है। ऐसी भक्ति वाले भक्तों का चित्त भगवान् के चरणारविन्दों से पल भर के लिये भी नहीं हटता। वस्तुत: ऐसे भक्त ही वैष्णवों में अग्रगण्य हैं - न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि य: स वैष्णवाग्रय: 'श्रीमद्भागवत ।।-2-53) (नाभादासजी ने ऐसे भक्तों को भगवान् के ही कह कर वन्दना की है- "भक्तभक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक। इनके पद वन्दन किये, नासत विघ्न अनेक" जैसे गाय के थन देखने में चार होते हैं, किन्तु चारों के अन्दर एक सरीखा दूध भरा रहता है। इसी प्रकार भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु सभी अभिन्न हैं। भक्त का भगवान् से अनिर्वचनीय प्रेम होता है, अत: उसकी प्रेमा भक्ति भी अनिर्वचनीय ही होती है। यह भक्ति अनुभूतिपरक है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तुल्य सिद्धान्तोपपत्ति

वैष्णव आचार्य परम्परा में श्री निम्बार्काचार्य का द्वैता द्वैत सिद्धान्त ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधान मानता है। जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत् का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतंत्र नहीं। आपने माना कि संसार ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। यह भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही समान रूप से महत्त्व की है। जैसे कार्यरूप द्वार अपनी कारणरूप मृत्तिका से अभिन्न है, क्यों कि दोनों का मूलतत्व एक ही है। साथ ही ये भिन्न भी हैं क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न हैं। वैसे ही कार्यरूप संसार कारणरूप ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अतः इनका मत द्वैताद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है। इनमें संसार द्वैत है और ब्रह्म अद्वैत है। दोनों मिल कर सत्य हैं।

आचार्य निम्बार्क ने भक्ति में राधाकृष्ण को विशेष महत्व दिया। आपने माधुर्य भक्ति की शिक्षा दी। जीव और ईश्वर के सम्बन्धों में आपने माधुर्य भर दिया। इस माधुर्य हेतु शरणागति को ही प्रमुख साधन कहा। आपने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर श्रीमद् भागवत को स्थान देकर प्रस्थान - चतुष्टय को स्वीकार किया।

इसी भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त परशुरामदेवाचार्य जी ने मथुरा के नारदटीले पर अपनी तपश्चर्या पूर्ण कर के वि.सं. 1515 में यहाँ मरु प्रदेश में पदार्पण किया और निम्बार्काचार्य पीठ की स्थापना की। सभी समीपस्थ साधु-सन्तों एवं नरेशों का आपको पूरा सहयोग मिला। आपके आदेशानुसार जोधपुर के राज उदयसिंह के द्वितीय पुत्र कृष्णसिंह ने वि.सं 1664 में कृष्णगढ़ राज्य की स्थापना की थी, जो आज किशनगढ़-मदन गंज के नाम से जाना जाता है। इस राज्य की स्थापना के पाँच वर्ष बाद ही परशुरामदेवाचार्य ने जीवित समाधि ले ली थी। इनके थोड़े समय बाद ही राज्यसंस्थापक कृष्णसिंह भी परम धाम जा बसे। इनके निधन के लगभग कई वर्षों बाद इसी राजकुल में भक्त साँवन्तसिंह का जन्म वि.सं. 1756 के पौष कृ० 13 को हुआ। इस समय वृन्दावन में निम्बार्क देवाचार्य जी पीठासीन थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही आपके द्वारा राजकुमार को वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर दी गयी। सं01777 में आपका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् आप अपने पिता राजसिंह के राजकार्य में भी सहयोग करने लगे, किन्तु आपका मन कृष्णभक्ति में अधिकतर लगा रहा। गुरु जी के आदेशानुसार आपने सर्वप्रथम 'मनोरथ-मंजरी' की रचना की। इस पुस्तक के अनशीलन से ही आपके वैराग्यरूपी मनोरथ का स्पष्ट पता लग जाता है। आपने लिखा है -

कब वृन्दावन धरनि में, चरन परैंगे जाय। कोटि धूरि धरि सीस पर, कछु मुखहू मैं खाय ॥

जमुना तट निसि चाँदनी, सुभग पुलिन मैं जाय। तब एकाकी होय हैं, मौन बदन डर जाय ॥

आप भक्त होने के साथ ही क्षत्रियोचित शूरवीर भी थे। तेरह वर्ष की अवस्था में ही आपने एक युद्ध में बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को मार गिराया था। आपने गुरुदेव की आज्ञा से आचार्यपीठ के सन्निकट आये हुये बर्बरसिंह से मल्लयुद्ध कर उसे मार डाला था। इस पर 'सिंह की शिकार' नामक लम्बी कविता भी लिखी गयी | संवत् 1804 में आप दिल्ली के शाही दरबार में थे ! इसी बीच आपके पिता राजसिंह का सं0 1805 में देहान्त हो गया।

बादशाह अहमदशाह ने आपको दिल्ली में ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार प्रदान कर दिया था, किन्तु जब आप कृष्णगढ़ पहुंचे, तो वहाँ देखा, आपके और उनके भाई बहादुरसिंह जोधपुर राजा की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। इस पर आपने मरहठों से सहायता लेकर अपने राज्य पर अधिकार कर लिया। इस गृहकलह से आपको राज्य के प्रति विरक्ति सी हो गयी। सं. 1505 में आपने लम्बी तीर्थयात्रा की। आपने अधिकांश समय वृन्दावन

में एक विरक्त भक्त की तरह बहुरूपिये के रूप में रह कर बिताया। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख आपने इस प्रकार किया "जहाँ कलह तहं सुख नहीं, कलह सुखन को सूल। सबै कलह इक राख में, राज कलह को मूल॥ कहा भयो नृप हूं भए, दोस्त जग बेकार। लेत न सुख हरिभक्ति को, सकल सुखन को सार॥" यद्यपि यह तीर्थयात्रा पूरी कर आप अपनी राजधानी लौट आये थे, किन्तु आपके चित्त में वैराग्य ने तीव्रता धारण कर ली। आपने इन्हीं वैराग्य के भावों से सम्बन्धित रचनायें कीं। वैराग्यसागर का एक पद्य है - "काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरानन के,तै ही कहा? तेरी मूढ गूढ़ गति पंगु की। बेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥ और सिद्ध सोधे अब, नागर न सिद्ध कुछ, मानि लेहु मेरी कही वार्त्ता यह सुद्र की। जाइ ब्रज मेरे ! कोरे मन को रंगाइ लै रे वृंदावन रेनु रची गौर स्याम रंग की॥"

आप भगवान् मुकुन्द के अनन्य शरण हो कर जीवन व्यतीत करना चाहते थे। आप सब कुछ छोड़ कर केवल प्रेमभक्ति के भिखारी बन गये थे "नागर बिहोरि करि जोरि गाँगी तिन पे हैं, देहु प्रेमभक्ति को छुड़ाय विष बासनी" | इस विकलता में ही तीन-चार वर्ष बीत गये | आपने विरक्त वेष धारण करने का निश्चय कर लिया था। उनके दीक्षागुरु वृन्दावन देव जी तो अब धराधाम पर नहीं थे। वे तो सं. 1800 में ही परमधामवासी हो गये थे, उनकी गद्दी पर गोविन्द देवजी आसीन थे, किन्तु वे भी उस समय तो चरनपुर गये हुये थे। अत: आपने वृन्दावनवासी राधाकृष्णोपासक मोहन देवजी से विधिवत् विरक्तवेष लेने का निश्चय किया और अपने पुत्र सरदार सिंह को आश्विन् शुक्ला दशमी वि.सं 1814को राजगद्दी पर बैठा दिया। दूसरे दिन एकादशी को कृष्णगढ़ से वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया।

आपके साथ आपकी दासी बनीं बनी ने भी विरक्त वेष धारण कर प्रस्थान किया। वह भी राधाकृष्ण की अनन्य भक्त थी, जो अपनी कविता में रसिकबिहारी की छाप लगाती थी। वैसे तो सावन्तसिंह जी की माता, बहिन (सुन्दरकुमारी), पुत्री (गोपाल कुमारी) और पौत्री (छत्रकुमरी) भी भक्तिभावना से पूर्ण थ्सी। इन सभी ने प्राय: भक्तिपरक कई रचनायें की थीं, किन्तु विरक्त वेष में रहकर वृन्दावन में दासी बणी ठणी ने ही भगवान् की आराधना की थी।

वृन्दावन पहुँच कर साँवन्तसिंह जी ने यमुना तट पर मोहनदासजी से विरक्त वेष लिया और कृष्ण भक्ति में तल्लीन हो गये। पहले जो आप श्री वृन्दावन' नाम से अपने पूर्व दीक्षागुरु की वन्दना करते थे, अब 'श्री मोहन गुरु बन्दों' नाम से गुरु वन्दना करने लगे। ऐसी वन्दना के कई पद आपके मिलते हैं। अब आप सांवन्तसिंह न रह कर भक्त नागरीदास हो गये थे। आपने स्वयं लिखा है, कि पहले जो कई सन्त राजा के नाम से मिलने में संकोच करते थे, वे अब नागरीदास का नाम सुन कर सन्तों के समूह के समूह मिलने को आने लगे।

समागत

"सुनि व्योहारिक नाम कौ, ठाढ़े दूर उदास। देखि मिले भर नैन सुनि, नाम नागरीदास ॥" वृन्दावन में रह कर आपने सन्तों के सम्मानार्थ एक आश्रम तथा एक क्षेत्र स्थापित किया, जो नागरीदास जी का घेरा और नागरीदास जी के क्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ।

विरक्त होने से पहले ही आपने कृष्णभक्ति और रासलीला से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकों की रचना कर डाली थी। मनोरथमंजरी के अतिरिक्त आपकी अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, रसिकरत्नावली, विहारचन्द्रिका, निकुंजविलास, व्रजयात्रा, भक्तिसार, कलिवैराग्यवल्लरी, गोपीप्रेमप्रकाश, भक्तिमार्गमगदीपिका, युगलभक्तिविनोद, वनविनोद, सुजनानबन्द, व्रजवैकुण्ठतुला, फागविहार, बालविनोद और वनजनप्रशंसा आदि। आपके विषय में रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रखर कृति छोड़ गये हैं। इनका कविता काल सं. 1786 से 1819 तक माना जा सकता है। ये भक्त थे और साहित्यरचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे, फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विशिष्टता है।

आपने वर्षा से सम्बन्धित एक छन्द बहुत उत्तम रचा है, जो स्मरण रखने योग्य है-"भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद पुही बरसावै। स्यामा जु आपनि ऊँची अटा पै छकी इस रीति मल्हारहि गावै॥ वा सब मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै। पौन भयंकर घूंघट टारे चाकरि दामिनि दीप दिखावै"। कृष्ण गढ़ में रह कर वृन्दावनवास की उत्कट लालसा के जो भाव उनके मन में उमड़ते थे, 'ब्रज में लै लै कढ़त दिन, किते दिये लै खोय। अबकै अबकै कहत ही, वह अबकै कब होय॥ आपके वे भाव वृन्दावन में रहकर साकार हुए और वैराग्य वेष धारण कर कृष्णभक्तों में नागरीदासजी का नाम अमर हो गया। वृन्दावन में ही सं0 1821 में आपकी भौतिक काया व्रजरज में विलीन हो गयी। नागरीदास जी के शरीर त्यागने के कुछ समय पश्चात् ही अर्थात् सं 1829 में उनकी भक्त दासी रसिकलहरी (बनीठणी) ने भी परम धाम की प्राप्ति की। नागरीदासजी की समाधि के निकट ही इनका स्मृतिचिह्न बना हुआ है।